लंबी कहानियाँ और दलित संदर्भ : डिक्लास से डि-कास्ट होना 'निष्कासन' और 'ग्रहण'

डा. चंद्रलेखा, व्याख्याता, कोंकणी विभाग गोवा विश्वविद्यालय

अपने महाकाव्यों में या आख्यानों में, मानवीय सामाजिक संदर्भों में जब भी सोचती हूँ तो बहुत सारे प्रश्नार्थ चिह्न मुझे दृष्टव्य होते हैं। जैसे पराशर मुनि और मत्स्यगंधा का संबंध और व्यास की उत्पत्ति, व्यास मुनि द्वारा कुरुवंश बचाने पांडुराजा, धृतराष्ट्रराजा और विदुर की उत्पत्ति। गौतम ऋषि और अहल्या का संबंध, सीता और द्रौपदी की उत्पत्ति और उनका जीवन, कृष्ण-राधा तथा कृष्ण और रुक्मिणी-सत्यभामा, केवट प्रसंग, शंभुक प्रसंग, धोबी-धोबन, पांडव-कौरवों की उत्पत्ति आदि में कहाँ है ''यत्र नार्यस्तु पूजयन्ते रमन्ते तत्र देवता: ?'' चस्त्रिए पूजा तो छोड़िए उसे मानवीय अधिकार से वंचित रखा गया। वहाँ या तो देवी या वेश्या दोनों ही स्थिति में पितृसत्ता की अधिकारवादिता, अतिवादिता है, सहज कुछ नहीं। हमारे इस महान देश में वर्ग और जाति के कारण एकलव्य को रक्तरंजित अंगूठा गुरुदक्षिणा में या कहें कूटनीति में देना पड़ा... कैसे गुरु, की पूरी जाति को उन्होंने अंगूठा दिखाया तथा राजगृह में अपनी सत्ता कायम की। राजकुमारों को संवारा और भीलकुमार को सताया ही नहीं पर वंचित भी किया। माँ-बाप की जाति के कारण कर्ण सुतपुत्र हो गया.... परशुराम का कोपभाजन सहकर, शापग्रस्त भी हो गया.... ब्राह्मणवाद, क्षत्रियवाद, वैश्यवाद और शूद्रवाद, स्त्रीवाद..... एक ओर वेदकालीन बड़ी बड़ी साहित्यिक बातों की ढोंगबाजी और दूसरी ओर मनुष्य को मनुष्य से दूर करनेवाली शूद्रवृत्ति.... लगता है हम उस समय भी ढ़ोंगी दंभी थे और आज भी हम वही हैं, यहाँ तक कि दर्शन शास्त्र में भी चार्वाक दर्शन को अपनी सहूलियत के लिए दवानेवाले हम उसे सही मानों में समझ न पाए....

गांधारी की तरह आखों पर पट्टी बांधें हम आज भी अत्याचार कर ही रहे हैं। इतिहास गवाह है, इस देशने आज तक किसी भी देश पर आक्रमण नहीं किया। कैसे करता ? यह देश तो अपने वर्गवाद और जातिवाद के आतंकवाद से ही मुक्त नहीं हो पाया। वह बाहर क्या देखता ? कभी कभी लगता है इन सब ढ़कोसलों को तहसनहस करके उनमें कुछ वास्तविक तथ्य खोजा जाय, अपने आपको पूर्णतया निवस्त्र-अनावृत करके सही मानों में पहचाना जाय तभी हम कुछ सोच पायेंगे।

हमारा आज का जीवन पुराने साहित्यिक मानदंड़ लेकर नहीं चल सकता। दृश्य-श्रव्य का हमारा मानदंड़ हो या पाश्चात्यों के विचारों से नाटक, महाकाव्य और गीतिकाव्य पर केंद्रित मानदंड़ हो आज के सेल्यूलाइड़ पर उतरकर सबकुछ गड्ड-मड्ड हो गया है। आज की साहित्यिक विधाओं को हम सिर्फ सुनते पढ़ते ही नहीं देख भी सकते हैं। महायुद्धों के पश्चात गद्य की नई विधाएँ विकसीत हुई जैसे रिपोतार्ज, रेखाचित्र, संस्मरण, ड़ायरी, यात्रावृतांत से भी आगे साक्षात्कार, फीचर, परिचर्चा, भूमिका और संपादकीय जैसी विधाएँ भी स्वतंत्र रूप में समृद्ध हो रही हैं। कहानी को हमने संस्कृत में 'गल्प' या 'आख्यायिका' कहा है पर आधुनिक युग में जिस कहानी का अवतरण हुआ वह संस्कृत मानदंड़ों से अलग है। इंग्लिश धून में हिंदुस्तानी गाने की तरह उसमें मिलावट है। क्राफ्टेड़ और ग्राफ्टेड़ दोनो ही रीति से संपन्न शोर्ट स्टोरी को हमने कहानी कहा है। कहानी, लघुकथा और लंबी कहानी अपना अपना स्वतंत्र रचनाविधान लेकर आज आगे बढ़

रही है। इन तीनों में जो अंतर डा. पुष्पा बंसल करती हैं वह इस प्रकार है -

" लघुकथा कहानी की सजातीय है, किन्तु व्यक्तित्व में उससे भिन्न। यह मात्र घटना है, परिवेश निर्माण को पूर्णतया छोड़कर, पात्र चरित्र चित्रण को भी पूर्णतया त्यागकर विश्लेषण से अछूती रहकर मात्र घटना (चरम सीमा) की प्रस्तुति लघुकथा है। कहानी में प्रेरणा बिंदु का विस्तार होता है। लघुकथा में विस्तार नहीं संकोच होता है, केवल बिंदु ही होता है, अपने घनीभूत रूप में। कहानी का कार्य मनोरंजन करना भी माना जाता रहा है। कुछ अंशों में आज भी माना जाता है। परंतु लघुकथा मनोरंजन नहीं करती, मन पर आघात करती है, चेतना पर ठोकर मारती है और आँखों में उंगली घुसाकर यथार्थ दिखाती है। जो लघुकथाएँ मनोरंजन करती हैं, हंसाती हैं - वे चुटकुले कहानी हैं। चुटकुला एक बुलबुले के समान हंसकर मिट जाता है। लघुकथा तकवे की नोंक को चुभाकर बनाया गया छोटा सा लाल घाव - बिंदु होता है, जिसकी पीड़ा अंदर की ओर फैलती जाती है.... " लंबी कहानी, कहानी के स्वरूप वैशिष्ट की रक्षा करते हुए भी कहीं इससे भिन्न हो जाती है। घटना-प्रभाव-अंतद्वंद्व को वह एक ही कोण से नहीं छूती, उसमें अपेक्षित 'विस्तार' से वह नहीं ड़रती, और अपने इकहरेपन में ही पूरे विस्तार से उभार देती है। वह व्यक्ति मन को विस्तार देकर उसकी भावनाओं का शक्ति एवम् संतोष के साथ चित्रण करती है, इसिलिए घटना का इकहरापन होते हुए भी उसके एकाधिक कोण स्पष्टता से उभर आतें हैं। परिवेश का चित्रण विस्तार से होता है। अर्थात लंबी कहानी में लेखक मुख्य पात्र के साथ साथ वर्ण्य घटना अथवा वस्तु से सम्बद्ध अन्य पात्र अथवा पात्रों को भी उभरने का अवसर देता है। वे उभरे हुए पात्र परिवेश की संपन्नता में स्थिति होकर मुख्य संघर्ष को गहराई एवम् विस्तार में अतिरिक्त आयाम प्रदान करते हैं। "

लंबी कहानी के स्वरूप वैशिष्ट को जानने के बाद अब देखते हैं दलित पृष्ठभूमि पर आधारित दो लंबी कहानियाँ जिनके शीर्षक है 'निष्कासन' ले. दूधनाथ सिंह - और 'ग्रहण' - ले. अखिलेश। कथादेश अगस्त २००१ में इनका प्रकाश हुआ, और अक्तूबर २००१ में उसकी प्रतिक्रिया में लिखा गया कि 'निस्कासन में आत्महत्या समस्या का समाधान नहीं ' - संजय कृष्ण, जमानियाँ स्टेनश, 'गैर दलितों द्वारा लिखी गई सफल कहानी' ओमप्रकाश मिश्र, 'दलित लड़की के साथ षड्यंत्र - अरूण अभिषेक, पूर्णिया आदि। 'ग्रहण' कहानी के बारे में डा. अजय गॉयल - हापुड़ से - लखते हैं - "राजकुमार पैदा हुआ तो मलद्वार नहीं था। डाक्टर ने अस्थाई मलद्वार उसके पेट में बना दिया, जिसे सर्जरी में कोलॉस्टमी कहते हैं.... कपड़े ढूँसने से जानलेवा इन्फेक्शन होगा - पिन्नी की थैली बाँध दी जाती है.... 'खुड्ड़ी' या 'कमोड़' की जरूरत नहीं.... आदि।

इन प्रतिक्रियाओं के साथ साथ अब साहित्य के विश्व में दलित विमर्श और स्त्री विमर्श उभरने के बहुत सारे कारणों में, उनके इतिहास में न जाते हुए, मैं सीधे ही दूधनाथ सिंह की कहानी निष्कासन पर आती हूँ। दलित समाज की दो बहनें हॉस्टेल में रह रही हैं, वहाँ का कमरा नं. तीस उसका वातावरण, वहाँ सवर्णों की धोंस, दलितों की मानसिक यातना, उसकी वंदना तो जिस पर बितती है वही बता पाता है। कई प्रकार की छद्म राजनीति, गुरुओं और कोमरेड़ की ढ़कोसलेंबाजी को उजागर करनेवाली इस कहानी की नायिका पूरी सिस्टम का विरोध करती है पर अंत में आत्महत्या करने पर मजबूर हो जाती है इस बिंदु पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस कहानी में दलित और स्त्री विमर्श, उसका उत्पीड़न पूरी संवेदना के साथ चित्रित हुआ है। स्त्री ही स्त्री का शोषण करती है, पति-पत्नी के संबंधों में भी 'क्रय-विक्रय' साफ दृष्टव्य होता है। कम्युनिस्ट कामरेड़ों की कथनी और करनी में अंतर साफ दिखाई देता है। शरीर व्यापार

करनेवाले कम्युनिस्ट आत्मा तो मानते ही नहीं, तो उसे जगाने का सवाल ही नहीं उठता। ज्ञान मंदिरों में सवर्ण वरिष्ठ महामहीम, कुलपति, अध्यापक, समितियाँ, टिप्पणियाँ, कानूनी दावपेच इन सबको एकाधिक कोणों से व्यक्त करने में यह लंबी कहानी सफल रही है। आज के हमारे देश में कॉमरेड़ या दूसरे रचनाकार, विद्वान 'डिक्लास' तो हो सकते हैं पर 'डि-कास्ट' नहीं हो पाते। यही डि-कास्ट न हो सकने का डिकास्टींग हमारी संस्कृति का सब से बड़ा कलंक है। माना कि कहानी कहीं कहीं भटकती भी है पर उसका जो मूल कथ्य है वह मेरे लिए उस कथन भंगिमा से ज्यादा महत्त्वपूर्ण बनता है। पांचहजार सालों की संस्कृति में हमने मनुष्यों को मनुष्य मनने से रोका, चाहे वह दलित हो या नारी.... बार बार परिधि से केंद्र में आने से रोका गया या रूकवाया गाया, हाशिये पर ही रखा गया धकेला भी गया पर उन दोनों को आज भी अपनी मनपसंद जिंदगी उपलब्ध नहीं हुई। जाति का अभिशाप आज भी उतना ही बलवान है। उन पात्रों की मानसिक पीड़ा, यातना, संविधान के हक्कों के बावजूद भी व्यवहार में वे हक्क बेजान हैं। कायदों को घोलकर उसके रसायण से ही जाति के नाम पर उन्ही घोल से मनुष्यता के खिलाफ समितियाँ बनाई जा रही हैं। यही हमारे समाज का ग्रहण भी है। जब जातिवाद के 'ग्रहण' को 'निष्कासन' मिलेगा तभी हमारा देश समग्रता में आगे बढ़ पायेगा। ओमप्रकाश वाल्मीकि का कथन कि "दलितों ने हजारों वर्षों की यातना भोगी वे उनके अनुभव हैं उसे गैरदलित जान नहीं पाता, तब पीड़ा का साक्षात्कार भी अधूरा ही होता है जिससे रचनाएँ सहानुभूतिपरक या करूणाजनक हो सकती हैं पर बदलाव या क्रांति की संभावनाएँ आने से पूर्व ही रचनाकार पाला बदल लेते हैं या फिर यथास्थिति बनाये रखने में मदद देते हैं" - निष्कासन पर तो खरी उतरती है क्योंकि 'नंबर तीस' आत्महत्या कर लेती है पर 'ग्रहण' के संदर्भ में यह बात सही नहीं उतरती। भोगा हुआ यथार्थ हो पर संवेदना और प्रतिभा न हो तो चित्रण कहाँ से हो पायेगा ? उसी तरह संवेदना और प्रतिभा हो पर यथार्थ भोगा हुँआ न हो तो सजीव चित्रण कहाँ से हो पायेगा ? जिस प्रकार निरालाजी और पंतजी की रचनाओं में अनुभूति और संवेदना का अंतर देखा जा सकता है उसी प्रकार दलितों और गैरदलितों में संवेदना का अंतर तो देखा जा सकता है पर उन संवेदनाओं के एहसास को नकारा नहीं जा सकता, वरना पागलखानों की बातें अनुभूत करने पालग हो जाना पड़ता। किसी भी प्रकार का संवेदन साहित्य में या दूसरी कलाओं में किसी भी वर्ग या जाति (यहाँ जाति शब्द cast और स्त्री-पुरुष जाति दोनों के लिए है।) का हो सकता है शर्त यही कि हमारे यहाँ 'डि-क्लास' होना बड़ी बात नहीं पर साथ साथ डि-कास्ट होना भी जरूरी है। बाहर का मार्क्सवाद शायद इसीलिए शत प्रतिशत रूप में हमारे यहाँ लागृ नहीं हो सकता।

सिर्फ 'निष्कासन' और 'ग्रहण' ही नहीं हमें तो हमारी सब रचनाओं की ध्यान में रखकर सब 'वादों' को लेकर भी उसकी संभावनाओं पर सोचना पड़ेगा। हमारे यहाँ तो जो स्थिति है वह यह कि अगर आप डि-कास्ट होने की बात कहेंगे तो -

"आप एक अवसरवादी ढ़ोंग फैलायेंगे। यहाँ जो बड़े बड़े डि-क्लास मार्क्सवादी हैं वो भी अगर ब्राह्मण हैं तो पहले ब्राह्मण हैं और अगर शूद्र हैं तो पहले शूद्र हैं। और सभी पार्टियों का यही हाल है।" (२)

उसी तरह 'ग्रहण' में भी चापाकल से पानी पीने की कोशिश में, स्कूल में राजकुमार की भयावह दुर्गति होती है - क्या हमारे आज के हिंदुस्तान में हमारे 'मानवतावाद' के ढ़कोसलों के लिए यह 'ग्रहण' की बात नहीं ? हमारे इतने सालों की संस्कृति ने अपने सामाजिक इतिहास से क्या, ग्रहण किया ? गलत ग्रहण किया है तो उसका 'निस्कासन' भी हमें ही करना होगा। असल में हमारी समस्या यह है कि हम घर में अल्ट्रा मोर्ड़ फर्नीचर तो रख सकते हैं (अगर खरीदने

की ताकत है तो) पर हमारा मस्तिष्क फर्निश नहीं कर पाते। हमारी मानसिकता बदल नहीं पाती फिर भी हम वेदकाल से लेकर आज तक काले लोगों की समस्या की बातें तो करेंगे और अपने शूद्रवाद को भूलकर मानवीय सहिष्णुता के नारे लगायेंगे। 'वसुधैव कुटुंबकम्' का संदेश फैलानेवाले हम हैं कहकर छाती गजगज फुलायेंगे और धन्य धन्य हो लेंगे और हमारे दलित आज भी चापाकल से पानी में असमर्थ होंगे तो उसे बिसलेरी की बोतल थमाकर खुश हो लेंगे। खाने को नहीं होगा तो जूठन के लिए भी शूली पर चढ़ा देंगे। तमाशा दिखाने मेगड़ोनल्ड् का दिखावा करेंगे पर मानसिकता नहीं बदलेंगे। आत्महत्या पलायन है पर जिन परिस्थितियों से उन्हें गुजरना पड़ा है वह वाकई मानवीयता के खिलाफ है उसका उन्मूलन होना ही चाहिए।

बहुत बार यह भी होता है कि दलितों को सामाजिक अन्याय और मानवीय अवहेलना दोनो भोगने पड़ते हैं। परिवेश का संत्रास उन्हें आत्महत्या करवाता है। इसके साथ कभी कभी धर्मांतरण भी किया जाता है फिर भी समस्या हल नहीं होती, इसका जिक्र नंद सिंघा - 'धरती धन न अपना' के ईसाई होने पर भी चमार ही रहता है, और कहा जाता है - " अगर चमार कहलवाना पसंद नहीं तो अपनी माँ से कहो, दोबारा जन्म दे" जब सुनियोजित स्वरूप में साजिशों का शिकार बनना पड़े तो मनुष्य क्या करे ? इनकी पूरी यंत्रणा दोनो कहानियाँ 'निष्कासन' और 'ग्रहण' वास्तविक रूप में चरितार्थ करती हैं। हिंदुस्तान में रहनेवाले ये हिंदू भी नहीं है वरना हिंदू इनसे इतनी घृणा क्यों करते ? यहाँ देखने लायक यह भी है कि दलितो में भी बहुतबार दलितों के प्रति सहानुभूति होते हुए भी उन्हें लाल आर्थिक लाभ-व्यापार के मुनाफे के कारण "तीस नंबर" की मदद करना तो दूर उपर से सलाह देता है - " डर कर रहो इस समाज में। इतनी धौंस से मत रहो, स्वाहा हो जाओगी " - सही है इन्हीं की पार्टी में रहकर जातिवादी राजनीति करना संभव ही नहीं क्योंकि यहाँ तो जिस पर आरोप है वही जाँच समिति में भी है - पृ. ४९, कथादेश - 'ठेला लगायेंगी' की बात भी अपमानीय रूप में फलाँ पिद्दू ही करता है। न्याय के नाम पर वही अन्याय और 'महत्त्वपूर्ण' तथा 'विस्तृत' जाँच की रिपोर्ट तक वे ही बनायें जिन में आरोपी शामिल हो तो 'तीन नंबर' क्या हासिल कर पायेगी ? जाँच कमेटी के चैयरमैन, कुलपति के प्रतिनिधि और ब्राह्मण भी वही है तो रिपोर्ट क्या हो सकती है ? जहाँ चरित्रहीन बनना नियति हो, जिसे मैड्म और उसका पति भी 'बाजार' में सही मनवाता हो वहाँ 'दलित तीस नंबर' तो छली नही जायेगी, जैसे राजकुमार भी छला ही जाता है। 'साला', 'कुजात', 'पेट हगना' - दुर्गंध, अत्याचार के अलावा विपद राम और बदुली के बेटे के नसीब में कुछ है ही नहीं ? सड़क पर खड़े होकर भगवान को नमन करने पर भी 'मादर'... जैसी गाली मिलती हो वहाँ राजकुमार विद्रोह न करें तो और क्या करे ? 'रपट' लिखवाने गया तो वहाँ पर भी लाठी की मार ही मिलती थी.... पृ. ७४.... आदमी को कपड़े लत्ते, रंग, कद-काठी से चिन्हना कहाँ तक सही है ? (७६) अंत में महीपान बाबा की समाधि पर फूलों की संख्या का बढ़ना प्रतीकात्मक रूप से बहुत कुछ कह जाता है।

हिंदी में जब दलित चेतना की बात उठाएँ तब यह ध्यान में रखना होगा कि मराठी भाषा में दलित चेतना की पृष्ठभूमि हिंदी की पृष्ठभूमि से भिन्न है। हिंदी में, मराठी दलित लेखन का प्रभाव स्वीकारा गया है। सन् १९६० में जो दलित चेतना मराठी साहित्य में थी यह हिंदी में १९९० में दृष्टव्य होती है। उसमें भी यह माना जाता रहा है कि दलित लेखन लिखनेवाला दलित ही हो क्योंकि जिसने झेला हो वही उसे बँथा भी कर सकता है। इसके बात दलित कौन उस पर चर्चा चली। फिर गैर दलितों ने दलित चेतना पर आधारित साहित्य रचा गया उसे दलितों का साहित्य मानने से इन्कार किया गया। गैर दलित, दलित चेतना पर अधिकार नहीं रख सकते। फिर महिलाओं ने लिखा उसीको महिला लेखन के अंतर्गत रखेंगे तो महिलाओं की समस्याओं को लेकर

लिखा गया बहुत सारा संवेदनशील साहित्य निकम्मा हो जायेगा। क्या स्वानुभूति को इतना महत्त्व देकर हम साहित्य में मिनिमाइजेशन ही लायेंगे। जैसे पाश्चात्य देशों में स्त्रीवादी लेखन और समीक्षा पर प्रश्नचिह्न लगते जा रहे हैं वैसे ही हमारा यहां भी दलित चेतना और स्त्री विमर्श अगर मिनिमाइजेशन का शिकार होंगे तो साहित्यिक चेतना पर प्रश्न उभरते जायेंगे। वास्तविक प्रश्न ब्राह्मण या शूद्र या स्त्री होना नहीं है पर किसी भी खेमे में होने से क्या फरक आता है उन्हीं को उजागर कर के मनुष्य चेतना तक पहुँचा जा सकता है। कोई भी संवेदनशील कलाकार किसी भी माध्यम से, किसी भी समस्या पर डि-क्लास होकर लिख सकता है साथ में डि-कास्ट होना भी हमारे देश के लिए महत्त्वपूर्ण बनता है। मराठी दलित लेखन अपनी परिधि से विस्तृत होकर आगे बढ़ेगा और हिंदी दलित लेखन का फलक, विस्तृत आयाम तय कर पाएगा।

अंत में मुझे यही कहना है कि दलित पृष्ठभूमि पर आधारित 'निष्कासन' और 'ग्रहण' दोनो कहानियाँ अनुक्रम से 'तीस नंबर' और 'राजकुमार' की न होकर किसी भी लड़की की हो सकती है और बायोलॉजिकल समस्या सिर्फ दलितों को ही नहीं होती किसी भी मनुष्य की हो सकती है। पात्रों का अंतर्विरोध अनेक काणों को विस्तृत करता हुआ परिवेश का आयाम भी कहानी को आगे बढ़ने में सहायक ही होता है। माना कि कहीं-कहीं काल्पनिक स्थितियाँ भी उभरी हैं पर कहानी का मर्म तो, हमारा वर्णवाद कहाँ कहाँ तक फैला है इसका लेखाजोखा गहरे पैठ कर करता है पर उसका मार्ग दूधनाथजी तलाश नहीं पाये और अखिलेशजी राजकुमार से खूनी संघर्ष तो करा सके पर समाज में बदलाव नहीं ला सके वैसे तो दोनों कहानियाँ बदलाव के संदर्भ में खरी नहीं उतरती फिर भी 'ग्रहण' में सूचकता से संघर्ष और फूलों के रंगों का बढ़ना महत्त्वपूर्ण जरूर बनता है। विद्रोह और प्रतिशोध हथियार तो बन सकते हैं, क्रांति कराने के लिए बदलाव महत्त्वपूर्ण है। 'गोदान' का जवाब 'गोहत्या' तो हो सकता है, उसका अलग सौंदर्यशास्त्र भी हो सकता है पर साहित्यकार का कार्य लोगों को भड़काकर अपनी रोटियाँ सेंकना नहीं होता, यह काम तो पिछलग्गू राजनैतिक कर ही रहे हैं और जनता को फँसा भी रहे हैं, जनता फँस भी रही है चाहे दलित हो या न हो, स्त्री-बच्चे मानसम्मान - स्वाभिमान मनुष्यता की पहचान है। चेतना कोई भी हो उसे देश, धर्म, वर्ग, जाति आदि संकीर्ण परिभाषाओं से निकालकर विश्व के तमाम वंचितों से जोड़ना आज के साहित्यकार का सही लक्ष्य माना जायेगा इसके लिए कोई आरक्षण कार्यगत नहीं होगा सिवाय कि विश्व वंचितों का ध्यान रखकर, अपनी पृष्ठभूमि और परिवेश के प्रति जागरूक होकर हर मनुष्य, मनुष्य संस्कृति के बारे में सोचें, हम सब मनुष्य पहले हैं बाकी सबकुछ बाद में।

पुनश्च - 'कथा क्रम' - जनवरी - मार्च २००२ में पृ. ग्यारह पर रवींद्र कालिया, दूधनाथ सिंह की कहानी के बारे में लिखते हैं। 'दूधनाथ आधुनिक बोध से दूर दुनिया के ऐसे पहले कथाकार हैं जो अपने पात्रों को जलील करने में महारत रखते है।...

'आइना' के संपादक अवधेश मिश्र 'जनसत्ता एक्सप्रेस - लखनऊ - में दूधनाथ सिंह को हिंदी के दादा कोंडके कहते हैं।

उपरोक्त दोनों बातों का लेखाजोखा दूधनाथजी की पूरी लेखन सामग्री को लेकर दिया गया, बयान है। मैंने अपनी बातों को 'निष्कासन' और 'ग्रहण' को सामने रखकर तथा लंबी कहानियों में दलित चेतना पर केंद्रित रखकर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है इसलिए अपनी बातें यहीं समाप्त करती हूँ।

सहायक ग्रंथ :

१) **डा. पुष्पा बंसल** — "हिंदी गदय का विधा-वैविध्य" ऋषणचरण जैन एवम् संतति, नई दिल्ली, १९८७, पृ. ५५

२) **कथादेश** — 'निष्कासन' - पृ. २० अगस्त, २००१

३) **कथा क्रम** — जनवरी-मार्च २००२